ॐ

श्री महावीराय नम:

सुखी होने की चाबी

(नित्य चिंतन सहित)

लेखक :

C.A. **जयेश मोहनलाल शेठ** (बोरीवली) B.Com., F.C.A.

अर्पण :

माता- **पूज्य कांताबेन** तथा

पिता - **पूज्य स्वर्गीय मोहनलाल नानचंद शेठ** को

जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमा होने पर भी, मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में=स्वभाव में) ही 'मैंपना' (एकत्व) करता है और उसका ही अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है अर्थात् यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

प्रकाशक : **शैलेश पूनमचंद शाह**

अनुमोदक – जयकला नलिन गाँधी परिवार

– अनुक्रमणिका –

क्रम	विषय	पृष्ठ
❖	प्रस्तावना	iii
१	सुखी होने की चाबी	१
२	सुबह उठकर.....	१९
३	समाधिमरण चिंतन	३०
४	कंदमूल के संबंध में	३४
५	रात्रिभोजन के संबंध में	३६
६	बारह भावना	३९
७	नित्य चिंतन कणिकाएँ	४२

© CA **जयेश मोहनलाल शेठ**

मूल्य : अमूल्य

हिन्दी प्रथम सात संस्करण–वि.सं.२०६९ (अक्टूबर २०१३ से)	३,००,०००
हिन्दी आठवाँ संस्करण–वि.सं.२०६९ (दिसम्बर २०१३)	५०,०००
कुल :	**३,५०,०००**
गुजराती छह आवृत्तियाँ–वि.सं. २०६९	२,००,०००
गुजराती सप्तम आवृत्ति–वि.सं. २०६९ (सितम्बर २०१३)	१०,०००
कुल :	**२,१०,०००**

नोट : यह पुस्तक किसी को प्रकाशित करना हो तो हमसे संपर्क साधने का निवेदन है।

विशेष : अगर आपको इस पुस्तक की जरूरत न हो,
तो अशातना से बचने के लिए नीचे बताये हुए पते पर कृपया भिजवा दें ।

संपर्क और प्राप्तिस्थान

शैलेश पूनमचंद शाह – 402, पारिजात, स्वामी समर्थ मार्ग,
(हनुमान क्रॉस रोड नंबर 2), विले पार्ले (पूर्व), मुंबई–400057
फोन : 26133048, मोबा.: 9892436799 / 7303281334

जयकला नलिन गाँधी – A/303, गोपाल, एस.वी. रोड,
मानव कल्याण के बाजू में, दहिसर (पूर्व), मुंबई–400068
फोन: 28952530, मोबा.: 9833677447 / 9821952530

टाइप सेटिंग : **विवेक कंप्यूटर्स,** अलीगढ़ – फोन : 99978 11570
मुद्रक : **दिनेश शास्त्री,** देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर – फोन : 99285 17346

प्रस्तावना

अनंत-अनंत काल से संसार सागर में भटकते जीव को, भगवान द्वारा कथित दुर्लभताओं (मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, पूर्ण इन्द्रियाँ, नीरोगी शरीर, सच्चे गुरु, सच्चे शास्त्र, सच्ची श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन और मुनिपना) में से शुरुआत की आठ दुर्लभताएँ हमें अनंत बार मिली हैं, तथापि अपने जीव की अर्थात् अपनी दिशा नहीं बदली। कोल्हू के बैल की तरह चारों गति में परिभ्रमण करते रहे परंतु पंचम गति अर्थात् मोक्ष के लिए प्रगति नहीं हुई। इसका कारण ज्ञानियों ने ऐसा बताया है कि आठ दुर्लभताएँ मिलने के पश्चात् यदि जीव नौवीं दुर्लभता न पाए अर्थात् आत्मअनुभव (स्पर्शना) न करे अर्थात् सम्यग्दर्शन न पाए तो संसार का फेरा मिटता नहीं अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

अत: यहाँ प्रस्तुत है **'सुखी होने की चाबी'** आत्मा प्राप्त करने का एक अति वेधक, सचोट और सीधा इलाज। लेखक श्री जयेशभाई शेठ, व्यवसाय से चार्टड एकाउंटंट हैं। उन्होंने अपने वर्षों के वांचन, चिंतन, मनन, अभ्यास और अनुभव को आचरण में लाने के पश्चात्, इस मानव समाज के कल्याणार्थ करुणा से शास्त्रों के आधार से सनातन सत्य द्वारा आत्म प्राप्ति का सरल मार्ग दर्शाया है। कितने ही आगम पढ़ते हुए,

पुस्तकें पढ़ते हुए, व्याख्यान सुनते हुए मन में कितने ही प्रश्न उपस्थित हों, तब कभी अनेक मतों के कारण मूल सिद्धांत विस्मृत हो जाता है और विषयांतर तथा विवादों में मुख्य बात और समझ भुला दी जाती है। लेखक का यह एक उत्तम प्रयास है कि इस विश्व का प्रत्येक जीव, किस प्रकार सुखी हो, उसके शाश्वत सिद्धांतों को उन्होंने संक्षिप्त, सरल और सुगम भाषा में हमें परोसा है।

ऐसी अंग्रेजी कहावत है कि सफल व्यक्ति कुछ नया नहीं करता, जो मूलभूत नियम हैं और सिद्धांत हैं, उन्हें ही नियमितरूप से अपने जीवन में उतारकर वह सफल बन जाता है; इस न्याय से, हम यह सुखी होने की चाबी की सनातन बातें जीवन में उतारें और भवाटवी के चक्कर टाल दें। भगवान की कृपा से और लेखक की असीम महेर, करुणा और अपने अहोभाग्य से हमें इस भव-भव के चक्रव्यूह को भेदने की सादी-सरल चाबी, सामान्य मनुष्य (COMMON MAN) को भी समझ में आए ऐसी भाषा और शैली में प्राप्त हुई है। उनका यह प्रयत्न तभी सफल होगा, जब इस चाबी से प्रत्येक वाचक, अपने आत्मा को भवरूपी बंधन के ताले से मुक्त कराएँ/छुड़ाएँ अर्थात् नित्य वांचन, मनन, चिंतन और अमल करने से क्या अशक्य है? कुछ भी नहीं।

यदि एक मेंढ़क और एक सिंह... सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षगामी बन सकते हैं तो विवेक सहित पाँच इन्द्रियोंवाले हम अर्थात् मनुष्य एक सचोट निर्णय लेकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्षगामी नहीं बन सकते??? अर्थात् अवश्य बन सकते हैं.... तो पढ़ो, विचारो, चिंतन करो और अपनाओ प्रस्तुत **'सुखी होने की चाबी'** को जिससे मोक्षमार्ग और अंत में मोक्ष पाकर अनंत अव्याबाध सुख प्राप्त करो, ऐसी आशा सहित।

जितेंद्र शांतिलाल शाह C.A. **मुकेश पूनमचंद शाह,** F.C.A.
शैलेश पूनमचंद शाह **जयकला नलिन गाँधी**
नमीता रसेश शाह

ॐ

श्री महावीराय नमः

सुखी होने की चाबी

सर्व प्रथम पंच परमेष्ठी भगवंतों को नमस्कार करके, हम सुखी होने की चाबी के विषय में लिखने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि सर्व जीव सुख के ही अर्थी होते हैं, दुःख से तो सर्व जीव दूर ही रहने का प्रयत्न करते हैं। वे सुख दो प्रकार के हैं – एक शारीरिक इन्द्रियजन्य सुख, जो कि क्षणिक (TEMPORARY) है और दूसरा आत्मिक सुख जो कि शाश्वत (PERMANENT) है।

प्रथम हम शारीरिक इन्द्रियजनित सुख के विषय में बतायेंगे, क्योंकि उससे सर्व जीव चिर-परिचित हैं। वैसे संसारी जीवों को सुख याने उत्तम स्वास्थ्य (HEALTH), भरपूर पैसे (WEALTH) तथा अनुकूल पत्नी, पुत्र इत्यादि परिवार (GOOD FAMILY)। इस सर्व सुख का स्रोत (SOURCE) क्या है? तो आप कहोगे कि सौभाग्य (GOOD LUCK)। तो प्रश्न होगा कि सौभाग्य मिलता किस प्रकार है? बनता किस प्रकार है? तो उसका उत्तर है कि पुण्य से। क्योंकि जो अपना पूर्व पुण्य है, उसे ही सौभाग्य कहते हैं। जबकि पूर्व पापों को दुर्भाग्य (BAD LUCK) कहा जाता है। इस कारण जिन्हें अपना नसीब

अच्छा बनाना हो, उन्हें पुण्य की अत्यंत आवश्यकता है और साथ में पाप से बचने की भी अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि पाप तथा पुण्य आमने-सामने बराबर नहीं होते, दोनों अलग-अलग भोगने पड़ते हैं। पाप का फल दु:खरूप होता है, जो कि कोई भी जीव नहीं चाहता, यदि दु:खरूप फल जीव नहीं चाहता तो उसके जनकरूप पाप किस प्रकार आचरेगा? अर्थात् नहीं आचरना चाहिए। कभी नहीं आचरना चाहिए।

इसलिए सौभाग्य बनाने के लिए तथा दुर्भाग्य से बचने-दुर्भाग्य घटाने के लिए, दैनिक जीवन में जो कोई बड़े पाप होते हैं, वे बंद करने आवश्यक हैं। जैसे कि कंदमूल भक्षण, रात्रिभोजन, सप्त महाव्यसन (जुआ, शराब, मांस, वेश्यागमन, चोरी, शिकार और परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन) तथा अभक्ष्य भक्षण जैसे कि आचार, मद्य, माखन इत्यादि तथा अन्याय अनीति से अर्थोपार्जन करना। ऐसे बड़े पाप बंद करते ही नये दु:खों का आरक्षण बंद हो जायेगा और पुराने पापों का पश्चात्ताप करने से, क्रोध, मान, माया, लोभ कम करने से (परंतु भावना पूर्ण छोड़ने की रखनी अर्थात् भावना वीतरागी बनने की रखनी) तथा बारह/सोलह भावना का चिंतन करने से नये पुण्य का बंध होता है तथा पुराने पापों का बंध शिथिल होता है अर्थात् पुराने पाप कमजोर होते हैं, यही सौभाग्य बनाने

का तथा दुर्भाग्य से बचने का मार्ग है।

यहाँ किसी को प्रश्न हो कि हमें तो अमुक देव-देवी की कृपा तथा उनके दर्शन-भक्ति करने से ही सुख प्राप्त होता दिखायी देता है, तो उन्हें हमारा उत्तर यह है कि वह सुख आपके पूर्व पुण्य का ही फल है। यदि आपके पाप का उदय हो तो कोई भी देव-देवी उसे पुण्य में बदलने के लिए शक्तिमान नहीं है। पुण्य का फल मांगना, वह निदान शल्यरूप होने से, बहुत अधिक पुण्य का अल्प फल मिलता है और वह सुख भोगते समय नियम से बहुत ही पाप बँधते हैं, जो कि भविष्य के दु:खों के जनक (कारण) बनते हैं। इसलिए मांगों या न मांगो, आपको आपके पूर्व पुण्य-पाप का फल अवश्य ही मिलता है, यही शाश्वत नियम होने पर भी, मांग कर पाप को आवकार-आमंत्रण (BOOKING, INVITATION) किस लिए देना? अर्थात् मांगना ही नहीं, कभी नहीं मांगना।

इससे एक बात तो निश्चित ही है कि अपने को जो कुछ भी दु:ख आता है, उसमें दोष अपने पूर्व पापों का ही होता है, अन्य किसी का भी नहीं। जो अन्य कोई दु:ख देते ज्ञात होते हैं, वे तो मात्र निमित्तरूप ही हैं। उसमें उनका कुछ भी दोष नहीं है। वे तो आपको, आपके पाप से छुड़ानेवाले ही हैं; तथापि ऐसी समझ न होने से, आपको निमित्त के प्रति जरा

भी रोष (क्रोध) आए तो फिर से आपको पाप का बंधन होता है, जो कि भविष्य के दु:खों का जनक (कारण) बनता है। इसी प्रकार अनादि से हम दु:ख भोगते हुए, नये दु:खों का सर्जन करते रहे हैं और अभी भी कर रहे हैं। इसलिए ऐसे अनंत दु:खों से छूटने का मात्र एक ही मार्ग है कि दु:ख के निमित्त को मैं उपकारी मानूँ, क्योंकि वह मुझे पाप से छुड़ाने में निमित्त हुआ है। उस निमित्त का किंचित् भी दोष गुनाह चिंतवन न करूँ, परंतु अपने पूर्व पापों का ही अर्थात् अपने ही पूर्व के दुष्कृत्य ही वर्तमान दु:ख के कारण है; इसलिए दु:ख के समय ऐसा चिंतवन करना कि ओहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य किया था! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है!! मिच्छामि दुक्कडं! मिच्छामि दुक्कडं! (यह है प्रतिक्रमण) और अब निर्णय करता हूँ कि ऐसे कोई दुष्कृत्य का आचरण फिर से कभी करूँगा ही नहीं! नहीं ही करूँगा! (यह है प्रत्याख्यान) अर्थात् अपने दु:ख के कारणरूप से अन्यों को दोषित देखना छोड़कर अपने ही पूर्वकृत भावों अर्थात् पूर्व के अपने ही पाप कर्मों का ही दोष देखकर, अन्यों को उन पापों से छुड़ानेवाले समझकर, धन्यवाद दो (THANK YOU! -WELCOME!) और नये पापों से बचो।

यदि आप सुख के अर्थी हो तो आप प्रत्येक को सुख दो! अर्थात् आप जो दोगे, वही आपको मिलेगा; ऐसा है कर्म

का सिद्धांत। अपने वर्तमान दु:ख का कारण अपने पूर्व में किये हुए पापकर्म ही हैं। इसलिए यदि आप दु:ख नहीं चाहते हो तो वर्तमान में आप दूसरे को दु:ख देना बंद करो और भूतकाल में आपने जो दुःख दूसरों को दिया हो, उसका पश्चात्ताप करो, उसका चिंतवन करके मन में पश्चात्ताप करो-माफी मांगो।

यहाँ किसी को प्रश्न होता है कि जगत में तो पापी भी पुजते हुए ज्ञात होते हैं, अत्यंत सुखी ज्ञात होते हैं। तो उसका उत्तर ऐसा है कि वह उनके पूर्व पुण्य का ही प्रताप है, जबकि पापी को वर्तमान में बहुत गाढ़े पापों का बंध होता ही है, जो कि उसके अनंत भविष्य में अनंत दु:खों का कारण बनने के लिए शक्तिमान होते हैं। इसलिए किसी के भी वर्तमान उदय पर दृष्टि नहीं करनी, क्योंकि वह तो उसके भूतकाल के कर्म पर ही आधारित होते हैं, परंतु मात्र वर्तमान पुरुषार्थ पर दृष्टि करने जैसी है, क्योंकि वही उसका भविष्य है अर्थात् कोई अपना वर्तमान उदय बदल सकने को प्राय: शक्तिमान नहीं है परंतु अपना भविष्य बनाने (गढ़ने) में शक्तिमान है और इसलिए ही जीव पुरुषार्थ करके सिद्धत्व भी पा सकता है। इसलिए ही अपने उदय पर दृष्टि न करके अर्थात् उसमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि न करके मात्र और मात्र आत्मार्थ के लिए ही पुरुषार्थ करने योग्य है।

यहाँ बताया गया शारीरिक इन्द्रियजन्य सुख वह वास्तविक सुख नहीं, परंतु मात्र सुखाभासरूप ही है अर्थात् वह सुख, दु:खपूर्वक ही होता है अर्थात् वह सुख, इन्द्रियों की आकुलतारूप दु:ख को/वेग को शांत करने के लिए ही सेवन किया जाता है, तथापि वह अग्नि में ईंधनरूप होता है अर्थात् वह बार-बार इसकी इच्छारूप दु:ख जगाने का ही काम करता है और वह भोग भोगते हुए जो नये पाप बँधते हैं, वे नये दु:ख का कारण बनते हैं अर्थात् वैसा सुख दु:खपूर्वक और दु:खरूप फलसहित ही होता है। दूसरा, वह क्षणिक है, क्योंकि वह सुख अमुक काल पश्चात् नियम से जानेवाला है, अर्थात् जीव को ऐसा सुख मात्र त्रसपर्याय में ही मिलने योग्य है। त्रसपर्याय बहुत अल्पकाल के लिए होती है, पश्चात् वह जीव नियम से एकेन्द्रिय में जाता है कि जहाँ अनंत काल तक अनंत दु:ख भोगने पड़ते हैं और एकेन्द्रिय में से बाहर निकलना भी भगवान ने चिंतामणिरत्न की प्राप्तितुल्य दुर्लभ बताया है। इसीलिए भगवान ने यह मनुष्य जन्म, पूर्ण इन्द्रियों की प्राप्ति, आर्यदेश, उच्चकुल, धर्म की प्राप्ति, धर्म की देशना, धर्म की श्रद्धा, धर्मरूप परिणमन इत्यादि को एक-एक से अधिक-अधिक दुर्लभ बताया है। इसलिए यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्यजन्म मात्र शारीरिक इन्द्रियजन्य सुख और उसकी प्राप्ति के लिए खर्च करने योग्य नहीं है, परंतु इसका एक भी पल व्यर्थ न गँवाकर एकमात्र

शीघ्रता से शाश्वत सुख ऐसे आत्मिकसुख की प्राप्ति के लिए ही लगाना योग्य है।

अब हम शाश्वत सुख ऐसे आत्मिकसुख की प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। सर्व प्रथम मात्र आत्मलक्ष्य से, उपर्युक्तानुसार सुख की चाबीरूप शुभभावों का सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा की योग्यता के अर्थ सेवन करना आवश्यक है, क्योंकि सम्यग्दर्शन, वह मोक्षमार्ग का दरवाजा है, अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता और मोक्षमार्ग में प्रवेश के बिना अव्याबाध सुख का मार्ग साध्य होता ही नहीं अर्थात् मोक्षमार्ग में प्रवेश और बाद के पुरुषार्थ से ही सिद्धत्वरूप मार्गफल मिलता है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना भवकटी (भव का अंत) भी नहीं होती (होता)। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव अर्धपुद्गलपरावर्तन काल से अधिक संसार में नहीं रहता। वह अर्धपुद्गलपरावर्तन काल में अवश्य सिद्धत्व को पाता ही है, जो कि सत्-चित्-आनंदस्वरूप शाश्वत है। इससे समझ में आता है कि इस मनुष्यभव में यदि कुछ भी करने योग्य है तो वह है एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन; वही सर्व प्रथम प्राप्त करने योग्य है। जिससे हमें मोक्षमार्ग में प्रवेश मिले और पुरुषार्थ स्फुरायमान होकर आगे सिद्ध पद की प्राप्ति हो। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि जो सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति कही जानेवाली श्रद्धारूप

अथवा नवतत्त्व की कही जानेवाली श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन है, वह तो मात्र व्यावहारिक (उपचाररूप) सम्यग्दर्शन भी हो सकता है, जो कि मोक्षमार्ग के लिए कार्यकारी नहीं गिना जाता, परंतु स्वानुभूति (स्वात्मानुभूति) सहित का सम्यग्दर्शन अर्थात् भेदज्ञानसहित का सम्यग्दर्शन ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है और उसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश भी शक्य नहीं है। इसलिए यहाँ बताया गया सम्यग्दर्शन, वह निश्चय सम्यग्दर्शन समझना।

प्रथम, हम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझेंगे। सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-गुरु-धर्म का स्वरूप जैसा है, वैसा समझना, अन्यथा नहीं। और जहाँ तक कोई भी आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप नहीं समझता अर्थात् स्व की अनुभूति नहीं करता, तब तक देव-गुरु-धर्म का यथार्थ स्वरूप भी नहीं जानता, परंतु वह मात्र देव-गुरु-धर्म के बाह्य स्वरूप/वेष की ही श्रद्धा करता है और वह उसे ही सम्यग्दर्शन समझता है; परंतु वैसी देव-गुरु-धर्म की बाह्य स्वरूप की/वेष की ही श्रद्धा, यथार्थ श्रद्धा नहीं है और इसलिए वह निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है, क्योंकि जो एक को (आत्मा को) जानता है, वह सर्व को (जीव-अजीव इत्यादि नव तत्त्वों को और देव-गुरु-धर्म के यथार्थ स्वरूप को) जानता है; अन्यथा नहीं। क्योंकि वह व्यवहारनय का कथन है अर्थात् एक आत्मा को जानते ही वह जीव सच्चे देवतत्त्व का आंशिक अनुभव करता है और इसलिए

वह सच्चे देव को अंतर से पहचानता है और वैसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वानुभूति सहित की) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसे देव बनने के मार्ग में चलनेवाले सच्चे गुरु को भी अंतर से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसे देव बनने का मार्ग बताने वाले सच्चे शास्त्र भी पहचानता है। इसलिए प्रथम तो शरीर को आत्मा न समझना और आत्मा को शरीर न समझना। अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि होना, वह मिथ्यात्व है। शरीर पुद्‌गलद्रव्य का बना हुआ है और आत्मा जो कि अलग ही अरूपी द्रव्य होने से पुद्‌गल को आत्मा समझना या आत्मा को पुद्‌गल समझना, यह विपरीत समझ है। दूसरे प्रकार से पुद्‌गल से भेदज्ञान और स्व के अनुभवरूप ही वास्तविक सम्यग्दर्शन होता है और वह कर्म से देखा जाए तो कर्मों की सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय को सम्यग्दर्शन कहा जाता है, परंतु छद्मस्थ को कर्मों का ज्ञान नहीं होता, इसलिए हमें तो प्रथम कसौटी से अर्थात् पुद्‌गल से भेदज्ञान और स्वानुभवरूप (आत्मानुभूतिरूप) ही सम्यग्दर्शन समझना चाहिए। इसलिए प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन करने के लिए क्या करना जरूरी है?

उत्तर : भगवान ने कहा है कि 'सर्व जीव स्वभाव से ही सिद्धसमान हैं' यह बात समझना जरूरी है।

संसारी जीव शरीरस्थ हैं और सिद्ध जीव तो मुक्त हैं तो

संसारी को सिद्ध जैसा कहा, वह किस अपेक्षा से?

उत्तर : वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से। जैसे कि संसारी जीव, शरीरस्थ होने पर भी, उनका आत्मा एक जीवत्वरूप पारिणामिक-भावरूप होता है; वह जीवत्वरूप भाव छद्मस्थ को (अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से) अशुद्ध होता है और उसके कषायात्मा इत्यादि आठ प्रकार भी कहे हैं। वह अशुद्ध जीवत्वभाव अर्थात् अशुद्धरूप से परिणमित आत्मा में से अशुद्धि को (विभावभाव को) गौण करते ही, जो जीवत्वरूप भाव शेष रहता है, उसे ही परमपारिणामिकभाव, शुद्धभाव, शुद्धात्मा, कारणपरमात्मा, सिद्धसदृशभाव, स्वभावभाव इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है और उस भाव की अपेक्षा से ही 'सर्व जीव स्वभाव से ही सिद्धसमान हैं' ऐसा कहा जाता है। यही बात श्री भगवतीजी (भगवई विवाहपन्नत्ति) सूत्र में १२वें शतक में उद्देसों १० में कही गयी है – ''हे भगवान! आत्मा कितने प्रकार के कहे गये हैं? हे गौतम! आठ प्रकार के। वे द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा हैं। हे भगवान! जिसे द्रव्यात्मा होता है, उसे क्या कषायात्मा होता है और कषायात्मा होता है, उसे क्या द्रव्यात्मा होता है? हे गौतम! जिसे द्रव्यात्मा होता है, उसे कषायात्मा कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता, परंतु जिसे कषायात्मा होता है, उसे तो अवश्य द्रव्यात्मा होता है। हे भगवान्! जिसे द्रव्यात्मा होता है उसे योगात्मा

होता है? इस प्रकार जैसे द्रव्यात्मा और कषायात्मा का संबंध कहा, वैसे द्रव्यात्मा और योगात्मा का संबंध कहना। (अर्थात् जिसे द्रव्यात्मा होता है, उसे योगात्मा कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता, परंतु जिसे योगात्मा होता है, उसे तो अवश्य द्रव्यात्मा होता है।)''- ऐसा श्री भगवतीजी (भगवई विवाहपन्नत्ति) सूत्र १२में शतक उद्देसो १०में बताये अनुसार द्रव्यात्मा प्रत्येक जीव में होता है। अर्थात् वह मिथ्यात्वी हो या सम्यग्दर्शनी हो; छद्मस्थ हो या केवली हो; संसारी (सशरीरी) हो या सिद्ध (अशरीरी) हो प्रत्येक जीव को द्रव्यात्मा होता है। इससे समझ में आता है कि द्रव्यात्मा, वही हमने ऊपर बताये अनुसार शुद्धात्मा (अशुद्ध जीवत्वभाव अर्थात् अशुद्धरूप परिणमित आत्मा में से अशुद्धि को गौण करते ही, जो जीवत्वरूप भाव शेष रहता है वह) है और उसी शुद्धात्मा की बात हमने इस पुस्तक में समझायी है।

अब हम यही बात दृष्टांत से देखते हैं। जैसे मलिन पानी में शुद्ध पानी छिपा हुआ है, ऐसे निश्चय से जो कोई उसमें फिटकरी (ALUM) फिराता है तो अमुक समय बाद उसमें (पानी में) रही हुई मलिनरूप मिट्टी तल में बैठ जाने से, पूर्व का मलिन पानी स्वच्छरूप ज्ञात होता है। इसी प्रकार जो अशुद्धरूप (राग-द्वेषरूप) परिणमित आत्मा है, उसमें विभावरूप अशुद्धभाव को बुद्धिपूर्वक गौण करते ही जो शुद्धात्मा

(द्रव्यात्मा) ध्यान में आता है अर्थात् ज्ञान में विकल्परूप से आता है, उसे भावभासन कहते हैं और उस शुद्धात्मा की अनुभूति होते ही जीव को सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् वह जीव उस शुद्ध आत्मरूप में (स्वरूप में=स्वभाव में) 'मैंपना' (एकत्वपना= स्वपना) करते ही, जो कि पहले शरीर में 'मैंपना' करता था, उस जीव को सम्यग्दर्शन होता है; यह विधि है सम्यग्दर्शन की, अर्थात् **'जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमा होने पर भी, मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में=स्वभाव में) ही 'मैंपना' (एकत्व) करता है और उसका ही अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है अर्थात् यही सम्यग्दर्शन की विधि है।'**

दूसरा दृष्टांत — जैसे दर्पण में अलग-अलग प्रकार के बहुत प्रतिबिंब होते हैं, परंतु उन प्रतिबिंबों को गौण करते ही स्वच्छ दर्पण दृष्टि में आता है; इसी प्रकार आत्मा में - ज्ञान में जो ज्ञेय होते हैं, उन ज्ञेयों को गौण करते ही निर्विकल्परूप ज्ञान का अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव होता है; यही सम्यग्दर्शन की विधि है। इसी विधि से अशुद्ध आत्मा में भी, सिद्ध समान शुद्धात्मा का निर्णय करना और उसमें ही 'मैंपना' करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

आत्मा में भेदज्ञान किस प्रकार करना? उसका उत्तर ऐसा है कि प्रथम तो प्रगट में आत्मा के लक्षण से अर्थात् ज्ञानरूप

देखने-जानने के लक्षण से आत्मा को ग्रहण करते ही पुद्गलमात्र के साथ भेदज्ञान हो जाता है और पश्चात् उससे आगे बढ़ने पर, जीव के जो उदयादि भाव, कर्म की अपेक्षा से कहे हैं, और कर्म पुद्गलरूप ही होने से, उन उदयादिक भावों को भी पुद्गल के खाते में डालकर, प्रज्ञारूप बुद्धि से शुद्धात्मा को ग्रहण करना, अर्थात् उन उदयादि भावों को जीव में से गौण करते ही जो जीवभाव शेष रहता है, उसे ही परमपारिणामिकभाव, शुद्धात्मा, स्वभावभाव, शुद्ध चैतन्यभाव, कारण-परमात्मा, द्रव्यात्मा, सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है और उसके अनुभव से ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस भाव की अपेक्षा से ही 'सर्व जीव स्वभाव से ही सिद्धसमान हैं' ऐसा कहा जाता है। इसके अनुभव को ही निर्विकल्प अनुभूति कहा जाता है, क्योंकि वह सामान्यभावस्वरूप होने से उसमें किसी विकल्प को स्थान ही नहीं है। भेदज्ञान की विधि ऐसी है। हम तो इसी शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं और परम सुख का अनुभव करते हैं। अत: आप भी दृष्टि बदलकर इसे ही शुद्ध देखो और आप भी इसका अर्थात् सत्-चित्-आनंदस्वरूप का आनंद लो- ऐसी हमारी प्रार्थना है। यही सम्यग्दर्शन का स्वरूप है और यही सम्यग्दर्शन की विधि है, परंतु जो यहाँ बतायी गई युक्ति अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय न मानकर अन्यथा ग्रहण करते हैं, वे शुद्ध नयाभासरूप

एकांत शुद्धात्मा को शोधते हैं और मानते हैं, वे मात्र भ्रमरूप ही परिणमते हैं। वैसा एकांत शुद्धात्मा कार्यकारी नहीं है क्योंकि वैसा एकांत शुद्धात्मा प्राप्त ही नहीं होता और इससे वे जीव, भ्रम में ही रहकर अनंत संसार बढ़ाकर अनंत दु:खों को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दर्शन के लिए अन्य प्रकार से कहा जा सकता है कि जैसे किसी महल के झरोखे में से निहारता पुरुष, स्वयं ही ज्ञेयों को निहारता है, न कि झरोखा; उसी प्रकार आत्मा, झरोखेरूपी आँखों से ज्ञेयों को निहारता है, वह ज्ञायक-जाननेवाला स्वयं ही है, न कि आँखें और वही मैं हूँ, सोहम्, वह ज्ञानमात्रस्वरूप ही मैं हूँ अर्थात् मैं मात्र देखने-जाननेवाला ज्ञायक-ज्ञानमात्र शुद्धात्मा हूँ ऐसी भावना करना और ऐसा ही अनुभव करना।

जिस समय मति और श्रुतज्ञान, इन दोनों में से किसी एक ज्ञान द्वारा स्वात्मानुभूति होती है, उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं इसलिए ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्षरूप हैं, परंतु परोक्ष नहीं। अर्थात् सम्यग्दर्शन, वह अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी और दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होता है, परंतु उसके साथ ही नियम से सम्यग्ज्ञानरूप शुद्धोपयोग उत्पन्न होता होने से उस शुद्धोपयोग को ही स्वात्मानुभूति कहा जाता है कि जो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशमरूप होती है और वह शुद्धोपयोग

अर्थात् स्वात्मानुभूति विभावरहित आत्मा की अर्थात् शुद्धात्मा की होने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है। अर्थात् स्वात्मानुभूति के काल में मनोयोग होने पर भी तब मन भी अतीन्द्रियरूप से परिणमित होने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है।

अब हम ध्यान के विषय में थोड़ा-सा बताते हैं। किसी भी वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति आदि पर मन का एकाग्रतापूर्वक चिंतन ध्यान कहलाता है। मन का सम्यग्दर्शन के लिए बहुत ही महत्त्व है अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय भी मन से ही चिंतवन किया जाता है और अतीन्द्रिय स्वात्मानुभूति के काल में भी वह भावमन ही अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमता है। इससे मन किस विषय पर चिंतवन करता है अथवा मन किन विषयों में एकाग्रता करता है इस पर ही बंध और मोक्ष का आधार है, अर्थात् मन ही बंध और मोक्ष का कारण है।

कर्म, मन-वचन-काया से बँधते हैं, उनमें सबसे कम कर्म काया से बँधते हैं क्योंकि काया की शक्ति की एक सीमा है, जबकि वचन से काया की अपेक्षा अधिक कर्मों का बंध होता है और सबसे अधिक कर्मों का बंध मन से ही होता है क्योंकि मन को कोई सीमा रोकती ही नहीं, इसलिए मन का बंध और मोक्ष में विशिष्ट महत्त्व है। इसीलिए सर्व साधना का आधार मन पर ही है और मन किस विषय पर चिंतन करता है, यह

जानना अत्यंत आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उससे ही आत्मा की योग्यता ज्ञात होती है और नये कर्मों के बंध से भी बचा जा सकता है।

इस मन की एकाग्रतारूप ध्यान शुभ, अशुभ और शुद्ध — ऐसे तीन प्रकार से होता है। इस ध्यान के चार प्रकार हैं, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, और शुक्लध्यान; उनके भी बहुत अंतर्भेद हैं। मिथ्यात्वी जीवों को आर्तध्यान और रौद्रध्यान नामक दो अशुभ ध्यान सहज ही होते हैं, क्योंकि वैसे ही ध्यान के, आत्मा को अनादि के संस्कार हैं; तथापि वह प्रयत्नपूर्वक मन को अशुभ में जाने से रोक सकता है। उस अशुभ में जाने से रोकने की ऐसी विधियाँ हैं। जैसे कि आत्मलक्ष्य से शास्त्रों का अभ्यास, आत्मस्वरूप का चिंतन, छह द्रव्यों के समूहरूप लोक का चिंतन, नव तत्त्वों का चिंतन, भगवान की आज्ञा का चिंतन, कर्म विपाक का चिंतन, कर्म की विचित्रता का चिंतन, लोक के स्वरूप का चिंतन इत्यादि वह कर सकता है। ऐसा मिथ्यात्वी जीवों का ध्यान भी शुभरूप धर्मध्यान कहलाता है, न कि शुद्धरूप धर्मध्यान; इसलिए उसे अपूर्व निर्जरा का कारण नहीं माना है क्योंकि अपूर्व निर्जरा के लिए वह ध्यान सम्यग्दर्शन सहित होना आवश्यक है अर्थात् शुद्धरूप धर्मध्यान होना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि को तदुपरांत शुद्धात्मा का ध्यान मुख्य होता है,

जिससे वह गुणश्रेणी निर्जरा द्वारा गुणस्थानक आरोहण करते-करते आगे शुक्लध्यानरूप अग्नि से सर्व घातिकर्मों का नाश करके, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है और अनुक्रम से सिद्धत्व को पाता है।

अन्यमति के ध्यान, जैसे कि कोई एक बिंदु पर एकाग्रता कराता हो, तो कोई श्वासोच्छ्वास पर एकाग्रता कराता हो अथवा तो अन्य किसी प्रकार कराता हो, परंतु जिससे देहाध्यास ही दृढ़ होता हो, ऐसा कोई भी ध्यान वास्तव में तो आर्तध्यानरूप ही हैं। ऐसे ध्यान से मन को थोड़ीसी शांति मिलती होने से लोग ठगाये जाते हैं और उसे ही सच्चा ध्यान मानने लगते हैं। दूसरे, श्वासोच्छ्वास देखने से और उसका अच्छा अभ्यास हो, उसे कषाय का उद्‌भव हो, उसकी जानकारी होने पर भी, स्वयं कौन है, उसका स्वात्मानुभूतिपूर्वक का ज्ञान नहीं होने से, ये सब ध्यान आर्तध्यानरूप ही परिणमते हैं। वैसे आर्तध्यान का फल है तिर्यंचगति। जबकि क्रोध, मान, माया-कपटरूप ध्यान, वह रौद्रध्यान है और उसका फल है नरकगति। धर्मध्यान के अंतर्भेदों में भी आत्मा ही केंद्र में है, इसलिए ही उसे सम्यक् ध्यान कहा जाता है।

कोई ऐसा मानते हों कि सम्यग्दर्शन, ध्यान के बिना नहीं होता तो उन्हें यह समझना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन, भेदज्ञान के बिना होता ही नहीं, ध्यान के बिना तो होता है।

इसलिए सम्यग्दर्शन के लिए आवश्यकता, वह ध्यान नहीं परंतु शास्त्र से भली प्रकार निर्णीत किया हुआ तत्त्व का ज्ञान और सम्यग्दर्शन के विषयरूप शुद्धात्मा का ज्ञान है। उस शुद्धात्मा में 'मैंपना' करते ही स्वात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसलिए इस मानवभव में यदि कुछ भी करने योग्य हो तो वह एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन ही प्रथम में प्रथम प्राप्त करने योग्य है। जिससे स्वयं को मोक्षमार्ग में प्रवेश मिले और पुरुषार्थ स्फुरायमान होने पर आगे सिद्धपद की प्राप्ति हो, जो कि अव्याबाध सुखस्वरूप है कि जिससे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। सर्व जनों को ऐसे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो—ऐसी भावना के साथ....

जिन-आज्ञा से विरुद्ध हम से कुछ भी लिखा गया हो तो त्रिविध-त्रिविध हमारे मिच्छामि दुक्कडं!

ॐ शांति! शांति! शांति!

नोट : जिन्हें सम्यग्दर्शन के संदर्भ में विस्तार से जानना हो, उन्हें लेखक के अन्य लेख पढ़ने का निवेदन है।

सुबह उठकर...

नित्य सुबह सूर्योदय से पहले उठकर अर्थ सहित नमस्कार मंत्र गिनना और शक्य हो तो हरेक पद के तीन ऐसे कुल पंद्रह खमासणा वंदना करके फ़िर प्रतिक्रमण करना। अगर पूर्ण प्रतिक्रमण करने जितना समय न हो तो यहाँ दिया हुआ भाव प्रतिक्रमण अवश्य करना। प्रथम सीमंधर प्रभु की आज्ञा लेके सामायिक धारण करना अथवा तीन नमस्कार मंत्र गिन कर न पालूँ, तब तक का संवर धारण करना ।

भाव प्रतिक्रमण

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंच नमोक्कारो, सव्व पाव पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवई मंगलं।

तिक्खुतो, आयाहिणं, पयाहिणं, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि। इच्छामि पडिक्कमिउं। इरियावहियाए विराहणाअे। गमणागमणे। पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा, उत्तिंग, पणग, दग्ग, मट्टी, मक्कडा-संताणा संकमणे, जे मे जीवा विराहिया एगेंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया। अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्विया, ठाणाओ ठाणं, संकामिया,

जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं। स्वामीनाथ! पाप की आलोचना करने के लिए राईयं (शामको देवसियं बोलना) प्रतिक्रमण की आज्ञा, इच्छामिणं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे राईयं (शामको देवसियं बोलना) पडिकम्मामि ठाअेमि (देवसियं/राईयं) ज्ञान, दर्शन, चरिताचरित्ते, तप, अतिचार, चिंतवनार्थं करेमि काउसग्गं नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंच नमोक्कारो, सव्वपावपणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवई मंगलं।

पहले आवश्यक की आज्ञा (ऐसा कहकर इशान कोने में सीमंधर प्रभु को तीन वंदना करना) करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं नकरेमि, नकारवेमि, मणसा वयसा कायसा तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। इच्छामि ठामि काउसग्गं जो मे राइओ (शामको देवसियो बोलना) अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुतो, उम्मग्गो, अक्कपो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असावग पाउग्गो, नाणे तंह दंसणे, चरिताचरिते, सुए, सामाइये, तिण्हं गुतीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्ह मणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिकखावयाणं बारस्स विहस्स सावग धम्मस्स जं खंडियं, जं विराहियं तस्स

मिच्छामि दुक्कडं! निन्यानवे अतिचार संबंधी कोई भी पाप दोष लगा हो तो अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवंतों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

दूसरे आवश्यक की आज्ञा! लोगस्स उज्जोयगरे, धम्म तित्थयरे जिणे; अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवलि, उसभमजियं च वंदे, संभव मभिनंदणं च सुमइं च; पउमप्पहं सुपासं, जिणं च च्चंदप्पहं वंदे, सुविहिं च पुष्पदंतं, सीयल सिज्जसं-वासुपुजं च; विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च; वंदामि कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च; वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च। अेवं मअे अभिथुआ, विहुय रय-मला पहीण जर-मरणा; चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा में पसीयंतु। कितिय वंदिय महिया, जे ए लोग्गस उत्तमा सिध्धा; आरूग्ग बोहिलाभं, समाहि वर मुत्तम दिंतु, चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा; सागर वर गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।

तीसरे आवश्यक की आज्ञा! इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए, निसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि-अहोकायं-कायसंफ़ासं खमणिज्जो भे! किलामो अप्पकिलंताणं, बहु सुभेणं भे राइओ (शाम को देवसिओ बोलना) वईक्कंतो? जत्ता भे? जवाणिज्जं च भे? खामेमि खमासमणो! राइये (शामको देवसियाए बोलना) वइक्कमं आवस्सियाऐ पडिक्कमामि

खमासमणाणं, राइया (शामको देवसिया बोलना) आसायणाऐ तित्तीसन्नयराए जंकिंचि मिच्छाए, मण दुक्कडाए, वय दुक्कडाए, काय दुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोहाए सव्व कालियाए, सव्व मिच्छोवयाराए, सव्व धम्माईक्कमणाए आसायणाए जो मे राइओ (शाम को देवसिओ बोलना) अइयारो कओ तस्स खमासमणो! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। स्वामीनाथ! सामायिक एक, चउविसंत्थो दो और वंदना तीन, यह तीनों आवश्यक पूरे हुए। इनके विषय में श्री वीतरागदेव की आज्ञा में कानो, मात्रा, बिंदी, पद, अक्षर, गाथा, सूत्र, कम, अधिक, विपरीत पढ़ा गया हो, तो अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवंतों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

चौथे आवश्यक की आज्ञा! ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के विषय में जो अतिचार लगे हो वे आलोचता हूँ- ऐसा पढ़ते हुए, गिनते हुए, चिंतन करते हुए चौदह प्रकार के कोई पाप-दोष लगे हों, तो अरिहंत, अनंता सिद्ध भगवंतों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं! और समकितरूप रत्न के विषय में मिथ्यात्वरूप रज, मेल, दोष लगा हो, तो अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवान की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं। अब प्रत्येक पापों के जो भी दोष लगे हों, उसकी चिंतवना करना और माफ़ी मांगना। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म-कामभोग, परिग्रह, भोग-उपभोग, कर्मदान का धंधा (व्यापार), अनर्थदंड,

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष-कलह, आळ-चाडी-चुगली, कपट, मिथ्यात्व - ऐसे समकितपूर्वक बारह व्रत, संलेखणा सहित्त अठारह पापस्थानक, पच्चीस मिथ्यात्व, चौदह स्थान के सम्मूर्च्छिम मनुष्य की विराधना संबंधी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, जाने, अनजाने, मन, वचन, काया से सेवन किये हो, सेवन करवाये हो, सेवते हुए के प्रति अनुमोदना की हो तो अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवंतों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

श्री गुरुदेव की आज्ञा से! श्री सीमंधरस्वामी की आज्ञा से! श्री चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णतो धम्मो मंगलं, चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णतो धम्मो लोगुत्तमा, चत्तारि शरणं पवज्जामि, अरिहंता शरणं पवज्जामि, सिद्धा शरणं पवज्जामि, साहू शरणं पवज्जामि, केवलि पण्णतो धम्मो शरणं पवज्जामि, चार शरणां, दु:ख हरणा, अवर शरण नहि कोइ। जो भव्य प्राणी आदरे, अक्षय अविचल पद होवे। अंगुठे में अमृत बसे, लब्धि तणां भंडार, गुरु गौतम को समरिए, मनवांछित फल दातार। भावे भावना भावीअे, भावे दीजे दान, भावे धर्म आराधीए, भावे केवलज्ञान। बोलो श्री महावीरस्वामी भगवान की जय! जैनशासन देव की जय! बोलो भाई सभी संतों की जय!

चार गति, चौबीस दंडक, चोरासी लाख जीवयोनि, एक क्रोड साढ़े सत्तानवे लाख कुल कोटि के जीव को मेरे जीव ने आरंभ से, समारंभ से, मन, वचन, काया से दुःख दिये हों; द्रव्य प्राण, भाव प्राण दुखाया हो; परितापना किलामना उपजायी हो; क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, राग से, द्वेष से, हास्य से, भय से, खलाय से, ढीठा से, आपथापना से, परउथापना से, दुष्ट लेश्या से, दुष्ट परिणाम से, दुष्ट ध्यान से- आर्त-रौद्र ध्यान से, ममता से, हठरूप से, अवज्ञा की हो; दु:ख में जोडे हो, सुख से छुड़ाया हो; प्राण, पर्याय, संज्ञा, इन्द्रिय आदि लब्धि-ऋद्धि से भ्रष्ट किये हों; तो वे सर्व मिल के अठारह लाख, चौबीस हजार, एक सौ बीस प्रकार से पाप-दोष लगे हों; तो अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवंतों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं! खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु में, मित्ती में सव्वभूएसु, वेर मज्झं न केणइ; एवं अहं आलोइयं, निंदियं, गरहियं, दुगंछियं, सम्मं तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिण चउव्वीसं। इति अतिचार आलोव्या, पडिक्कम्या, निंदिया, नि:शल्य हुए। विशेष विशेष अरिहंत, सिद्ध, केवली आदि, गणधरजी, आचार्यजी, उपाध्यायजी, साधु, साध्वी, गुर्वादिक को भुजो भुजो करके क्षमा चाहता हूँ, श्रावक-श्राविकाओं की क्षमा चाहता हूँ, समकित द्रष्टि जीवों की क्षमा चाहता हूँ, उपकारी माता-पिता, भाई-बहनों की

क्षमा चाहता हूँ तथा चोरासी लाख जीव योनि के जीवों की क्षमा चाहता हूँ।

पाँचवें आवश्यक की आज्ञा! राइयं (शाम को देवसियं बोलना) पायच्छित्त विशुद्धनार्थं करेमि काउसग्गं, नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंच नमोक्कारो, सव्व पाव पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवई मंगलं। चार लोगग्स का कायोत्सर्ग करना।

छट्ठे आवश्यक की आज्ञा! शक्ति अनुसार नियम वगेरे प्रत्याख्यान लेना। कोई भी प्रत्याख्यान या पच्चक्खाण संकल्प अनुसार, सीमंधर भगवंत की साक्षी में तीन नमोकार मंत्र गिनके ले सकते हैं। स्वामीनाथ! सामायिक एक, चउवीसत्थो दो और वंदणा तीन, प्रतिक्रमण चार, काउसग्ग पांच और छट्ठे किए पच्चक्खाण। ये छहों आवश्यक पूर्ण हुए उसके विषय में श्री वीतराग देव की आज्ञा में कानो, मात्रा, बिंदी, पद, अक्षर, गाथा, सूत्र, कम, ज्यादा, विपरीत पढ़ा हो तो अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवंतों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण, अशुभ योग का प्रतिक्रमण, ये सब मिल के ब्यासी बोल का प्रतिक्रमण। उसके

विषय में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, जाने, अनजाने में, मन, वचन, काया से जो कोई पाप दोष का सेवन किया हो, तो अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवंतों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

गत काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल का संवर और आनेवाले काल का पच्चक्खाण। उसके विषय में जो कोई पाप दोष लगा हो, तो अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवंतों की साक्षी सह तस्स मिच्छामि दुक्कडं!

सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्था। सत्य की श्रद्धा, गलत का बारंबार मिच्छामि दुक्कडं। देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रंथ, केवली भाषित दयामय धर्म। ये तीन तत्त्व सार, संसार असार। भगवंत! आपका मार्ग सत्य है। तमेव सच्चं! तमेव सच्चं! करेमि मंगलं, महामंगलं, थव थुइ मंगलं।

पहेला नमोत्थुणं श्री सिद्ध भगवंतों को करता हूँ। नमोत्थुणं! अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवर पुंडरियाणं, पुरिसवर गंध हत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोग नाहाणं, लोग हियाणं, लोग पइवाणं, लोग पज्जोयगराणं, अभय दयाणं, चक्खु दयाणं, मग्ग दयाणं, सरण दयाणं, जीव दयाणं, बोहि दयाणं, धम्म दयाणं, धम्म देसयाणं, धम्म नायगाणं, धम्म सारहिणं, धम्मवर

चाउरंत चक्कवटिणं, दीवो ताणं सरण गई पइट्ठाणं, अप्पडिहयं वर नाण, दंसण धराणं, वियट्ट छउमाणं, जिणाणं-जावयाणं, तिन्नाणं, त्तारयाणं, बुद्धाणं-बोहयाणं, मुत्ताणं-मोयगाणं, सव्वनूणं-सव्वदरिसीणं, सिव, मयल, मरूय, मणंत, मक्खय, मव्वाबाह, मपुणराविति, सिद्धिगइ नामघेयं ठाणं संपताणं, नमो जिणाणं-जिय भयाणं।

दूसरा नमोत्थुणं श्री अरिहंत भगवंतों को करता हूँ। नमोत्थुणं! अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवर पुंडरियाणं, पुरिसवर गंध हत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोग नाहाणं, लोग हियाणं, लोग पइवाणं, लोग पज्जोयगराणं, अभय दयाणं, चक्खु दयाणं, मग्ग दयाणं, सरण दयाणं, जीव दयाणं, बोहि दयाणं, धम्म दयाणं, धम्म देसयाणं, धम्म नायगाणं, धम्म सारहिणं, धम्मवर चाउरंत चक्कवटिणं, दीवो ताणं सरण गइ पइट्ठाणं, अप्पडिहय वर नाण, दंसण धराणं, वियट्ट छउमाणं, जिणाणं-जावयाणं, तिन्नाणं, त्तारयाणं, बुद्धाणं-बोहयाणं, मुत्ताणं-मोयगाणं, सव्वन्नूणं-सव्वदरिसीणं, सिव, मयल, मरूय, मणंत, मक्खय, मव्वाबाह, मपुणराविति, सिद्धिगइ नामघेय ठाणं संपावियु कामाणां, नमो जिणाणं-जिय भयाणं।

तीसरा नमोत्थुणं धर्मगुरु, धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, सम्यकत्वरूपी बोधिबीज के दातार, जिनशासन के शणगार

ऐसी अनेक शुभ उपमा से बिराजमान जो-जो साधु-साध्वियाँ वीतरागदेव की आज्ञा में जहाँ-जहाँ विचरते हों, वहाँ-वहाँ उनको मेरी समय-समय की वंदना हो। सामायिक पालना अथवा संवर तीन नमोकार मंत्र गिन के पालना।

सूर्यास्त के समय भी उपरोक्त प्रतिक्रमण करना, पश्चात् वाँचन, मनन, चिंतन, ध्यान करना। उसमें चिंतन करना कि यह देह तो कभी भी छूटनेवाला ही है, तो इसकी ममता अभी से ही क्यों नहीं छोड़नी? अर्थात् देह की ममता तत्काल छोड़ने योग्य है। मेरी अनादि की यात्रा में यह देह तो मात्र एक विश्राम ही है, और इस विश्राम में यदि मैं मेरा काम न कर लूँ तो फिर अनंत काल तक नंबर लगे (अवसर आए) ऐसा नहीं है। इसलिए भगवान ने यह मेरा अंतिम दिन है ऐसा जीने को कहा है। इसलिए देह, पैसा, परिवार का मोह छोड़कर, मात्र अपने आत्मा के लिये ही चिंता, चिंतन, मनन, ध्यान करने योग्य है-मेरे आत्मा ने इन चार गति, चौबीस दंडक, चौरासी लाख जीव योनि में अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए अनंत-अनंत भव किये हैं, अनंत जीवों के साथ रिश्तेदारी और संबंध बनाया है और सबको निज माना है। ममत्वभाव से बहुत परिग्रह एकत्रित करके मेरा माना है परंतु आज से मुझे प्रभु! आपकी कृपा से भान हुआ इसलिए उन सर्व को अरिहंत, अनंत सिद्ध भगवंतों की साक्षी से अंत:करणपूर्वक मन, वचन, काया से

विस्मृत करता हूँ! अब मुझे इन सर्व के साथ कोई संबंध ही नहीं। वोसिरामी! वोसिरामी!! वोसिरामी!!! तीन मनोरथ - आरंभ परिग्रह तजकर, कब होऊँ व्रतधर; अंत समय आलोचना, करूँ संथारा सार। नित्य सोते समय सागारी संथारा धारण करना-आहार, शरीर और उपधी पचक्खू, पाप अठारह; मरण आवे तो वोसिरे, जिऊँ तो आगार।

नोंध - नित्य सुबह-शाम माता-पिता को प्रणाम करना, अवकाश के दिन इस प्रतिक्रमण के अर्थ समझना और चिंतवन करना, जिन्हें सुबह/शाम को समय न मिले, वे यह प्रतिक्रमण जब समय मिले तब कर सकते हैं। दूसरे, नित्य-जब भी समय मिले, नमस्कार मंत्र का स्मरण करना। कोई भी शास्त्र पढ़ते हुए याद रखना कि - यह मैं मेरे लिये पढ़ता हूँ। इसमें बताये गए सर्व भाव मेरे जीवन में उतारने योग्य हैं। तीसरा, हमेशा याद रखना कि अच्छा वह ही मेरा-सच्चा वह ही मेरा; नहीं कि मेरा वह अच्छा-मेरा वह सच्चा; और जो सच्चा मिले, उसे स्वीकार करने को तैयार रहना, मिथ्या मान्यताएँ छोड़ने को (बदलने) तैयार रहना। मत-पंथ-संप्रदाय-व्यक्ति विशेष का आग्रह छोड़ देना।

समाधिमरण चिंतन

सर्व प्रथम यह समझना आवश्यक है कि मरण अर्थात् क्या? और वास्तव में मरण किसका होता है?

उत्तर : आत्मा तो अमर होने से कभी मरण को पाता ही नहीं, परंतु वास्तव में आत्मा का पुद्‌गलरूप शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध का अंत आता है, उसे ही मरण कहा जाता है। इसलिए मरण अर्थात् आत्मा का एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना।

संसार में कोई एक घर छोड़कर, दूसरे अच्छे घर में रहने जाता है अथवा कोई पुराने कपड़े बदलकर नये कपड़े पहनता है, तब शोक करते ज्ञात नहीं होता। ट्रेन में सब अपने-अपने स्टेशन आने पर उतर जाते हैं परंतु कोई उसका शोक करते ज्ञात नहीं होता; तो मरण के प्रसंग में शोक क्यों होता है? इसका सबसे बड़ा कारण है मोह, अर्थात् उन्हें अपना माना था, इसलिए शोक होता है। सब कोई जानते हैं कि एक दिन सबको इस दुनिया से जाना है, तथापि अपने विषय में कभी कोई विचार नहीं करते और उसके लिए अर्थात् समाधिमरण की तैयारी भी नहीं करते। इसलिए सर्व को अपने समाधिमरण के विषय में विचार कर, उसके लिए तैयारी करने योग्य है।

इसलिए **प्रश्न** होता है कि समाधिमरण मतलब क्या और उसकी तैयारी कैसी होती है? समाधिमरण अर्थात् एकमात्र आत्मभाव से (आत्मा में समाधिभाव से) वर्तमान देह को छोड़ना। अर्थात् मैं आत्मा हूँ ऐसे अनुभव के साथ का, अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित के मरण को समाधिमरण कहा जाता है; अर्थात् समाधिमरण का महत्त्व इस कारण है कि वह जीव, सम्यग्दर्शन साथ लेकर जाता है अन्यथा, अर्थात् समाधिमरण न होकर, वह जीव सम्यग्दर्शन को वमन कर जाता है। लोग समाधिमरण की तैयारी के लिए संथारा की भावना भाते हुए ज्ञात होते हैं। अंत समय की आलोचना करते हुए/कराते हुए ज्ञात होते हैं, निर्यापकाचार्य (संथारे का निर्वाह करानेवाले आचार्य) की शोध करते ज्ञात होते हैं परंतु सम्यग्दर्शन, जो कि समाधिमरण का प्राण है, उसके विषय में लोग अनजान ही हों – ऐसा ज्ञात होता है। इसलिए समाधिमरण की तैयारी के लिए यह पूर्ण जीवन एकमात्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उपाय में ही लगाना योग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना अनंत बार दूसरा सब कुछ करने पर भी आत्मा का उद्धार शक्य नहीं हुआ, भवभ्रमण का अंत नहीं आया। अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जो उपाय करने से, कदाचित् एक-दो, थोड़े से भव अच्छे मिल भी जायें, तथापि भवकटी नहीं होती और इस कारण

अनंत दु:खों का अंत नहीं आता, अर्थात् नरक-निगोद का नदावा (ACQUITTANCE= अब पश्चात् वह जीव कभी नरक/ निगोद में जानेवाला नहीं) होता नहीं इसलिए ऐसे दुर्लभ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए और तैयारीरूप इस संसार के प्रति वैराग्य, संसार के सुखों के प्रति उदासीनता और शास्त्र स्वाध्याय से यथार्थ तत्त्व का निर्णय आवश्यक है।

यह मनुष्यभव अत्यंत दुर्लभ है, इसलिए इसका उपयोग किसमें करना यह विचारना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि जैसा जीवन जिया हो, प्राय: वैसा ही मरण होता है; इसलिए नित्य जागृति जरूरी है। जीवन में नीति-न्याय आवश्यक है, नित्य स्वाध्याय, मनन, चिंतन आवश्यक है, क्योंकि आयुष्य का बंध कभी भी पड़ सकता है और गति अनुसार ही मरण के समय लेश्या होती है। इसलिए जो समाधिमरण चाहते हों, उन्हें पूर्ण जीवन सम्यग्दर्शन सहित धर्ममय जीना आवश्यक है। इसलिए जीवनभर सर्व प्रयत्न सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए ही करना योग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिए किए गए सर्व शुभभाव यथार्थ हैं, अन्यथा वे भवकटी के लिए अयथार्थ सिद्ध होते हैं और उस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद भी प्रमाद सेवन करना योग्य नहीं है, क्योंकि एक समय का भी प्रमाद नहीं करने की भगवान की आज्ञा है।

सबको मात्र अपने ही परिणाम पर दृष्टि रखनी योग्य है

और उसमें ही सुधार करना चाहिए। ‘दूसरे क्या करते हैं?’ अथवा ‘दूसरे क्या कहेंगे?’ इत्यादि न सोचकर अपने लिए क्या योग्य है यह सोचना। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के कारण का सेवन नहीं करना और यदि भूल से, अनादि के संस्कारवश आर्तध्यान और रौद्रध्यान हुआ हो तो तुरंत ही उसमें से परान्मुख होना (प्रतिक्रमण); उसका पश्चात्ताप करना (आलोचना) और भविष्य में ऐसा कभी न हो (प्रत्याख्यान)-ऐसा दृढ़ निर्धार करना। इस प्रकार दुर्ध्यान से बचकर, पूर्ण यत्न संसार के अंत के कारणों में ही लगाना योग्य है। ऐसी जागृति पूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है, तब ही मरण के समय जागृति सहित समाधि और समत्वभाव रहने की संभावना रहती है कि जिससे समाधिमरण हो सके। सर्वजनों को ऐसा समाधिमरण प्राप्त हो ऐसी भावना के साथ....

जिन-आज्ञा से विरुद्ध हमसे कुछ भी लिखा गया हो तो त्रिविध-त्रिविध हमारे मिच्छामि दुक्कडं!

ॐ शांति! शांति! शांति!

कंदमूल के संबंध में

हमने पहले देखा कि कंदमूल भक्षण से अनंत पाप लगते हैं तो किसी को **प्रश्न** होता है कि ऐसा कैसे है? उसका कारण (LOGIC) क्या है?

उत्तर : हमने पूर्व में देखा, वैसे जो हम दूसरों को देते हैं, वही हमें प्राप्त होता है। इसलिए हम अपना जीवन गुज़ारने में जो दूसरे जीवों को दु:ख देते हैं, वही हमें वापस (RECIPROCATE) मिलेगा। जैसे कि जब हम प्रत्येक वनस्पति का भोजन में उपयोग करते हैं, तब उसमें संख्यात जीव होने से जितना पाप लगता है, उसकी अपेक्षा कंदमूल अर्थात् अनंतकाय वनस्पति का भोजन में उपयोग करने से, उसमें अनंत जीव होने से, अनंतगुना पाप लगता है और इसलिए उससे अनंत दु:ख आते हैं।

इसीलिए कहा है कि पूर्ण जीवन में प्रत्येक वनस्पतिकाय का भोजन में उपयोग करने से जो पाप लगता है, उससे अनंतगुना पाप कंदमूल अर्थात् अनंतकाय वनस्पति का एक टुकड़ा खाने से लगता है, क्योंकि उस कंदमूल अर्थात् अनंतकाय के एक टुकड़े में असंख्यात प्रतर (LAYER) होते हैं, वैसे एक प्रतर में असंख्यात श्रेणियाँ (LINE) होती हैं, वैसी एक श्रेणी में असंख्यात गोले (BALL) होते हैं, वैसे एक गोले में असंख्यात

शरीर (BODY) होते हैं और ऐसे एक शरीर में अर्थात् कंदमूल-अनंतकाय-निगोद के एक शरीर में अनंतानंत जीव होते हैं। वे अनंतानंत अर्थात् कितने?

उत्तर : सर्व सिद्धों से अनंत-अनंतगुने। इसकारण कहा जा सकता है कि कंदमूल अर्थात् अनंतकाय के एक टुकड़े में असंख्यात x असंख्यात x असंख्यात x असंख्यात x अनंतानंत जीव होते हैं। इसलिए सुख के अर्थी जीवों को उन कंदमूल के प्रयोग से बचना चाहिए, क्योंकि वह अनंत दु:ख का कारण बनने में सक्षम है अर्थात् उनके प्रयोग से अनंत पापकर्म बँधते हैं, जो कि अनंत दु:ख का कारण बनने में सक्षम है। अस्तु!

आत्मार्थी को कोई भी मत-पंथ-संप्रदाय-व्यक्ति विशेष का आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह, पूर्वाग्रह अथवा पक्ष होना ही नहीं चाहिए, क्योंकि वह आत्मा के लिए अनंत काल की बेड़ी-समान है अर्थात् वह आत्मा को अनंत काल भटकानेवाला है। आत्मार्थी के लिये 'अच्छा वह मेरा' और 'सच्चा वह मेरा' होना अति आवश्यक है, जिससे वह आत्मार्थी अपनी मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर सत्य को सरलता से ग्रहण कर सके और यही उसकी योग्यता कहलाती है।

रात्रिभोजन के संबंध में

रात्रिभोजन का त्याग मोक्षमार्ग के पथिक के लिए तो आवश्यक है ही, परंतु उसके आधुनिक विज्ञान-अनुसार भी अनेक लाभ हैं। जैसे कि रात्रि नौ बजे शरीर की घड़ी (BODY CLOCK) अनुसार पेट में रहे हुए विषमय तत्त्वों की सफाई का (DETOXIFICATION) समय होता है, तब पेट यदि भरा हुआ हो तो शरीर वह कार्य नहीं करता (SKIP करता है) अर्थात् पेट में कचरा बढ़ता है परंतु जो रात्रिभोजन नहीं करते, उनका पाचन नौ बजे तक हो जाने से उनका शरीर विषमय तत्त्वों की सफाई का कार्य भले प्रकार से कर सकता है। दूसरा, रात्रि में भोजन के पश्चात दो से तीन घण्टे तक सोना निषिद्ध है और इसलिए जो रात्रि में देर से भोजन करते हैं, वे देर से सोते हैं परंतु रात्रि में ग्यारह से एक बजे के दौरान गहरी नींद (DEEP SLEEP) लीवर की सफाई और उसकी नुकसान भरपाई (CELL REGROWTH) के लिए अत्यंत आवश्यक है। जो कि रात्रिभोजन करनेवाले के लिए शक्य नहीं है। इसलिए यह भी रात्रिभोजन का बड़ा नुकसान है। आरोग्य की दृष्टि से इसके अतिरिक्त भी रात्रिभोजन त्याग के दूसरे अनेक लाभ हैं।

आयुर्वेद, योगशास्त्र और जैनेतर दर्शन के अनुसार भी रात्रिभोजन निषिद्ध है। जैनेतर दर्शन में तो रात्रिभोजन को मांस

खाने के समान और रात्रि में पानी पीने को खून पीने के समान बताया है और दूसरा, रात्रिभोजन करनेवाले के सर्व तप-जप-यात्रा सब व्यर्थ होते हैं और रात्रिभोजन का पाप सैकड़ों चंद्रायतन तप से भी नहीं धुलता - ऐसा बताया है।

जैनदर्शन के अनुसार भी रात्रिभोजन का बहुत पाप बताया है। यहाँ कोई ऐसा कहे कि रात्रिभोजन त्याग इत्यादि व्रत अथवा प्रतिमाएँ तो सम्यग्दर्शन के बाद ही होती हैं तो हमें इस रात्रिभोजन का क्या दोष लगेगा? तो उन्हें हमारा उत्तर है कि रात्रिभोजन का दोष सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि को अधिक ही लगता है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि उसे रच-पच कर सेवन करता (होता) है, जबकि सम्यग्दृष्टि को आवश्यक न हो, अनिवार्यता न हो तो ऐसे दोषों का सेवन ही नहीं करता और यदि किसी काल में ऐसे दोषों का सेवन करता है तो भी भीरुभाव से और रोग की औषधिरूप से करता है; नहीं कि आनंद से अथवा स्वच्छंदता से। इस कारण किसी भी प्रकार का छल किसी को धर्म शास्त्रों में से ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि धर्मशास्त्रों में प्रत्येक बात अपेक्षा से कही होती है। इसलिए व्रत और प्रतिमाएँ पंचम गुणस्थान में कही हैं, उसका अर्थ ऐसा नहीं निकालना चाहिए कि अन्य कोई निम्न

भूमिकावाले उसे अभ्यास के लिए अथवा तो पाप से बचने के लिए ग्रहण नहीं कर सकते। बल्कि सबको अवश्य ग्रहण करने योग्य ही है, क्योंकि जिसे दु:ख प्रिय नहीं है — ऐसे जीव, दु:ख के कारणरूप पापों का किस प्रकार आचरण कर सकते हैं? अर्थात् आचरण कर ही नहीं सकते।

अस्तु!

आत्मार्थी को एक ही बात ध्यान में रखने योग्य है कि यह मेरे जीवन का अंतिम दिन है और यदि इस मनुष्य भव में मैंने आत्म-प्राप्ति नहीं की तो अब अनंत, अनंत, अनंत... काल पश्चात् भी मनुष्य जन्म, पूर्ण इन्द्रियों की प्राप्ति, आर्यदेश, उच्च कुल, धर्म की प्राप्ति, धर्म की देशना इत्यादि मिलनेवाले नहीं है; परंतु अनंत, अनंत, अनंत... कालपर्यंत अनंत, अनंत, अनंत... दु:ख ही मिलेंगे। इसलिए यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्य जन्म, मात्र शारीरिक इन्द्रियजन्य सुख और उसकी प्राप्ति के लिए खर्च करने योग्य नहीं है। परंतु उसके एक भी पल को व्यर्थ न गँवाकर, एकमात्र शीघ्रता से शाश्वत सुख-आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए ही लगाना योग्य है।

बारह भावना

- **अनित्य भावना–** सर्व संयोग अनित्य हैं वे कोई भी मेरे साथ नित्य रहनेवाले नहीं हैं, इसलिए उनका मोह त्यागना, उनमें 'मैंपना' और मेरापना त्यागना।
- **अशरण भावना–** मेरे पापों के उदय समय मुझे माता-पिता, पत्नी-पुत्र, पैसा इत्यादि कोई भी शरण हो सके - ऐसा नहीं है। वे मेरा दु:ख ले सके - ऐसा नहीं है। इसलिए उनका मोह त्यागना, उनमें मेरापना त्यागना परंतु कर्तव्य पूरी तरह निभाना।
- **संसार भावना–** संसार अर्थात् संसरण भटकन और उसमें एक समय के सुख के सामने अनंत काल का दु:ख मिलता है; अत: ऐसा संसार किसे रुचेगा? अर्थात् एकमात्र लक्ष्य संसार से छूटने का ही रहना चाहिए।
- **एकत्व भावना–** अनादि से मैं अकेला ही भटकता हूँ, अकेला ही दु:ख भोगता हूँ; मरण के समय मेरे साथ कोई भी आनेवाला नहीं है। अत: मुझे शक्य हो, उतना अपने में ही (आत्मा में ही) रहने का प्रयत्न करना।
- **अन्यत्व भावना–** मैं कौन हूँ? यह चिंतवन करना अर्थात् पूर्व में बताये अनुसार पुद्गल और पुद्गल (कर्म) आश्रित भावों से अपने को भिन्न भाना और उसी में 'मैंपना' करना,

उसका ही अनुभव करना, उसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वही इस जीवन का एकमात्र कर्तव्य होना चाहिए।

- **अशुचि भावना–** मुझे, मेरे शरीर को सुंदर बताने का जो भाव है और विजातीय के शरीर का आकर्षण है, उस शरीर की चमड़ी को हटाते ही मात्र मांस, खून, पीव, मल, मूत्र इत्यादि ही ज्ञात होते हैं, जो कि अशुचिरूप ही हैं। ऐसा चिंतवन कर अपने शरीर का और विजातीय के शरीर का मोह तजना, उसमें मोहित (मूर्छित) नहीं होना।
- **आस्रव भावना–** पुण्य (शुभ) और पाप (अशुभ) ये दोनों मेरे (आत्मा के) लिए आस्रव हैं; इसलिए विवेक द्वारा प्रथम पापों का त्याग करना और एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव में रहना कर्तव्य है।
- **संवर भावना–** सच्चे (कार्यकारी) संवर की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिए उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्चे संवर के लक्ष्य से द्रव्यसंवर पालना।
- **निर्जरा भावना–** सच्ची (कार्यकारी) निर्जरा की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिए उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्ची निर्जरा के लक्ष्य से यथाशक्ति तप आचरना।

- **लोकस्वरूप भावना–** प्रथम, लोक का स्वरूप जानना, पश्चात् चिंतवन करना कि मैं अनादि से इस लोक में सर्व प्रदेशों में अनंत बार जन्मा और मरण को प्राप्त हुआ; अनंत दुःख भुगते, अब कब तक यह चालू रखना है? अर्थात् इसके अंत के लिए सम्यग्दर्शन आवश्यक है। अतः उसकी प्राप्ति का उपाय करना। दूसरा, लोक में रहे हुए अनंत सिद्ध भगवंत और संख्यात अरहंत भगवंत और साधु भगवंतों की वंदना करना और असंख्यात श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की अनुमोदना करना, प्रमोद करना।
- **बोधिदुर्लभ भावना–** बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन। अनादि से अपनी भटकन का यदि कोई कारण है तो वह है सम्यग्दर्शन का अभाव; इसलिए समझ में आता है कि सम्यग्दर्शन कितना दुर्लभ है और कोई आचार्य भगवंत ने तो कहा है कि वर्तमान काल में सम्यग्दृष्टि अंगुली के पोर पर गिने जा सके इतने ही होते हैं।
- **धर्मस्वरूप भावना–** वर्तमान काल में धर्मस्वरूप में बहुत विकृतियाँ प्रवेश कर चुकी हैं, इसलिए सत्य धर्म की शोध और उसका ही चिंतन करना; सर्व पुरुषार्थ उसे प्राप्त करने में लगाना।

नित्य चिंतन कणिकाएँ

- **एक समकित पाये बिना, जप तप क्रिया फोक।**
  जैसा मुर्दा सिनगारना, समझ कहे तिलोक।।

  अर्थात्—सम्यग्दर्शन रहित सर्व क्रिया—जप-तप-श्रावकपना, क्षुल्लकपना, साधुपना इत्यादि मुर्दे को शृंगारित करने जैसा निरर्थक है। यहाँ कहने का भावार्थ यह है कि ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना क्रिया—तप-जप श्रावकपना, क्षुल्लकपना, साधुपना भव का अंत करने में कार्यकारी नहीं है अर्थात् वे नहीं करना ऐसा नहीं, परंतु उनमें ही संतुष्ट नहीं हो जाना अर्थात् उनसे ही अपने को कृतकृत्य न समझकर, सर्व प्रयत्न एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए ही करना।

- भगवान के दर्शन किस प्रकार करना? भगवान के गुणों का चिंतवन करना और भगवान, भगवान बनने के लिए जिस मार्ग पर चले, उस मार्ग पर चलने का दृढ़ निर्णय करना, वही सच्चे दर्शन हैं।

- संपूर्ण संसार और सांसारिक सुख के प्रति वैराग्य के बिना अर्थात् संसार और सांसारिक सुखों की रुचिसहित मोक्षमार्ग की शुरुआत होना अत्यंत दुर्लभ है अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है।

- जीव को चार संज्ञा / संस्कार-आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अनादि से है; इसलिए उनके विचार सहज होते हैं। वैसे विचारों से जिन्हें छुटकारा चाहिए हो, उन्हें स्वयं की उनकी ओर की रुचि तलाशना अर्थात् जब तक ये संज्ञाएँ रुचती हैं अर्थात् इनमें सुख भासित होता है। जैसे कि कुत्ते को हड्डी चूसने देने पर उसके जबड़े में घिसने से खून निकलता है कि जिसे वह ऐसा समझता है कि खून हड्डी में से निकलता है और इसलिए उसे उसका आनंद होता है कि जो मात्र उसका भ्रम ही है। इस प्रकार जब तक यह आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अर्थात् बलवान का डर और कमजोर को डराना/दबाना रुचता है, वहाँ तक उस जीव को उसके विचार सहज होते हैं और इसलिए उसके संसार का अंत नहीं होता। इस कारण मोक्षेच्छु को इस अनादि के उल्टे संस्कारों को मूल से निकालने का पुरुषार्थ करने योग्य है, जिसके लिए सर्व प्रथम इन संज्ञाओं के प्रति आदर छोड़ना आवश्यक है। इसलिए सर्व पुरुषार्थ उनके प्रति वैराग्य हो, इसके लिए ही लगाना आवश्यक है कि जिसके लिए सद्वाँचन और सच्ची समझ आवश्यक है।
- आपको क्या रुचता है? यह है आत्मप्राप्ति का बैरोमीटर।

इस प्रश्न का उत्तर चिंतवन करना। जब तक उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो, तब तक अपनी गति संसार की ओर समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति, ऐसा हो तो समझना कि आपके संसार का किनारा बहुत नजदीक आ गया है। इसलिए उसके लिए पुरुषार्थ बढ़ाना।

- आपको क्या रुचता है? यह आपकी भक्ति का बैरोमीटर है। अर्थात् भक्तिमार्ग की व्याख्या यह है कि जो आपको रुचता है, उस ओर आपकी सहज भक्ति समझना। भक्तिमार्ग अर्थात् चापलूसी अथवा व्यक्तिगतरूप भक्ति नहीं समझना, परंतु जो आपको रुचता है अर्थात् जिसमें आपकी रुचि है, उस ओर ही आपकी पूर्ण शक्ति कार्य करती है। इसलिए जिसे आत्मा की रुचि जगी है और मात्र उसका ही विचार आता है, उसकी प्राप्ति के ही उपाय विचारता है तो समझना कि मेरी भक्ति यथार्थ है। अर्थात् मैं सच्चे भक्तिमार्ग में हूँ; इसलिए जब तक आपको क्या रुचता है, इसके उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो अथवा कोई व्यक्ति हो, तब तक अपनी भक्ति संसार की ओर समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति, ऐसा होता है तो समझना कि आपके

संसार का किनारा बहुत नजदीक आ गया है। इसलिए भक्ति अर्थात् संवेग समझना कि जो वैराग्य अर्थात् निर्वेद सहित ही आत्मप्राप्ति के लिए कार्यकारी है।

- अभयदान, ज्ञानदान, अन्नदान, धनदान, औषधदान में अभयदान अतिश्रेष्ठ है। इसलिए सबको प्रतिदिन जीवन में जत्ना/यत्ना (प्रत्येक काम में कम से कम जीव हिंसा हो वैसी सावधानी) रखना अत्यंत आवश्यक है।
- पैसा पुण्य से प्राप्त होता है या मेहनत से अर्थात् पुरुषार्थ से? **उत्तर–** पैसे की प्राप्ति में पुण्य का योगदान अधिक है और मेहनत अर्थात् पुरुषार्थ का योगदान न्यून है; क्योंकि जिसका जन्म पैसापात्र कुटुंब में होता है, उसे कुछ भी प्रयत्न किए बिना ही पैसा प्राप्त होता है और कई लोग व्यापार में बहुत मेहनत करने पर भी पैसा गँवाते दिखाई देते हैं। पैसा कमाने के लिए प्रयत्न आवश्यक है, परंतु कितना? क्योंकि बहुत लोगों को बहुत अल्प प्रयत्न में अधिक पैसे प्राप्त होता दिखता है, जबकि किसी को बहुत प्रयत्न करने पर भी कम पैसा प्राप्त होता ज्ञात होता है। इसलिए यह निश्चित होता है कि पैसे प्रयत्न की अपेक्षा पुण्य को अधिक वरते हैं। इसलिए जिसे पैसे के लिए मेहनत करना आवश्यक लगता हो, उन्हें भी

अधिक से अधिक आधा समय ही अर्थोपार्जन में और कम से कम आधा समय तो धर्म में ही लगाना योग्य है। क्योंकि धर्म से अनंत काल का दु:ख मिटता है और साथ ही साथ पुण्य के कारण पैसा भी सहज ही प्राप्त होता है। जैसे गेहूँ बोने पर साथ में घास अपने-आप ही प्राप्त होती है, उसी प्रकार सत्य धर्म करने से पाप हल्के बनते हैं और पुण्य तीव्र बँधता है, इसलिए भवकटी के साथ-साथ पैसा और सुख अपने आप ही प्राप्त होता है और भविष्य में अव्याबाध सुखरूप मुक्ति मिलती है।

- पुरुषार्थ से धर्म होता है और पुण्य से पैसा मिलता है। अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ धर्म में लगाना और पैसा कमाने में कम से कम समय लगाना; क्योंकि वह मेहनत के अनुपात में (PROPORTIONATE =प्रमाण) नहीं मिलता, परंतु पुण्य के अनुपात में मिलता है।
- कर्मों का जो बंध होता है, उसके उदय काल में आत्मा के कैसे भाव होंगे अर्थात् उन कर्मों के उदय काल में नये कर्म कैसे बँधेंगे, उसे अनुबंध कहते हैं; वह अनुबंध, अभिप्राय का फल है; इसलिए सर्व पुरुषार्थ अभिप्राय बदलने में लगाना अर्थात् उसे सम्यक् करने में लगाना।

- स्वरूप से मैं सिद्धसम होने पर भी, राग-द्वेष मेरे कलंक समान हैं, उन्हें धोने के (मिटाने के) ध्येयपूर्वक धगश और धैर्य सहित धर्म पुरुषार्थ आदरना।
- संतोष, सरलता, सादगी, समता, सहिष्णुता, सहनशीलता, नम्रता, लघुता, विवेक, जीवन में होना अत्यंत आवश्यक है।
- तपस्या में नवबाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य अति श्रेष्ठ है।
- सांसारिक जीव निमित्तवासी होते हैं, कार्यरूप तो नियम से उपादान ही परिणमता है, परंतु उस उपादान में कार्य हो, तब निमित्त की उपस्थिति अविनाभावी होती ही है; इसलिए विवेक से मुमुक्षु जीव समझता है कि कार्य भले मात्र उपादान में हो, परंतु इससे उन्हें स्वच्छंद से किसी भी निमित्त-सेवन का परवाना नहीं मिल जाता और इसीलिए ही वे निर्बल निमित्तों से भीरुभाव से दूर ही रहते हैं।
- साधक आत्मा को टी.वी., सिनेमा, नाटक, मोबाइल, इंटरनेट इत्यादि कमजोर निमित्तों से दूर ही रहना आवश्यक है; क्योंकि कितने भी अच्छे भावों को बदल जाने में देरी नहीं लगती। दूसरा, यह सब निर्बल निमित्त अनंत संसार अर्थात् अनंत दु:ख की प्राप्ति के कारण बनने में सक्षम हैं।

- माता-पिता के उपकारों का बदला दूसरे किसी भी प्रकार से नहीं चुकाया जा सकता। एकमात्र उन्हें धर्म प्राप्त कराकर ही चुकाया जा सकता है। इसलिए माता-पिता की सेवा करना। माता-पिता का स्वभाव अनुकूल न हो तो भी उनकी सेवा पूरी-पूरी करना और उन्हें धर्म प्राप्त करवाना, उसके लिए प्रथम स्वयं धर्म प्राप्त करना आवश्यक है।
- धर्म लज्जित न हो, उसके लिए सर्व जैनों को अपने कुटुंब में, व्यवसाय में, दुकान, ऑफिस इत्यादि में तथा समाज के साथ अपना व्यवहार अच्छा ही हो, इसका ध्यान रखना आवश्यक है।
- अपेक्षा, आग्रह, आसक्ति, अहंकार निकाल देना अत्यंत आवश्यक है।
- स्वदोष देखो, परदोष नहीं; परगुण देखो और उन्हें ग्रहण करो, यह अत्यंत आवश्यक है।
- अनादि की इन्द्रियों की गुलामी छोड़ने योग्य है।
- जो इन्द्रियों के विषयों में जितनी आसक्ति ज्यादा, जितना जो इन्द्रियों का दुरुपयोग ज्यादा, उतनी वे इन्द्रियाँ भविष्य में अनंत काल तक मिलने की संभावना कम।

- मेरे ही क्रोध, मान, माया, लोभ मेरे कट्टर शत्रु हैं, बाकी विश्व में मेरा कोई शत्रु ही नहीं है।
- एक-एक कषाय अनंत परावर्तन कराने के लिए शक्तिमान है और मुझमें उन कषायों का वास है तो मेरा क्या होगा? इसलिए शीघ्रता से सर्व कषायों का नाश चाहना और उसका ही पुरुषार्थ आदरना।
- अहंकार और ममकार अनंत संसार का कारण होने को सक्षम है; इसलिए उनसे बचने का उपाय करना।
- निंदा मात्र अपनी करना अर्थात् अपने दुर्गुणों की ही करना, दूसरों के दुर्गुण देखकर सर्व प्रथम स्वयं अपने भाव जाँचना और यदि वे दुर्गुण अपने में हों तो निकाल देना और उनके प्रति उपेक्षाभाव अथवा करुणाभाव रखना, क्योंकि दूसरे की निंदा से तो हमें बहुत कर्मबंध होता है अर्थात् कोई दूसरे के घर का कचरा अपने घर में डालता ही नहीं। इस प्रकार दूसरे की निंदा करने से उसके कर्म साफ होते हैं, जबकि मेरे कर्मों का बंध होता है।
- ईर्ष्या करनी हो तो मात्र भगवान की ही करना अर्थात् भगवान बनने के लिए भगवान की ईर्ष्या करना, अन्यथा नहीं; इसके अतिरिक्त किसी की भी ईर्ष्या

करने से अनंत दु:ख देनेवाले अनंत कर्मों का बंध होता है और जीव वर्तमान में भी दु:खी होता है।

- जागृति हर समय रखना अथवा हर घंटे अपने मन के परिणाम की जाँच करते रहना, उनका झुकाव किस ओर है, वह देखना और उसमें आवश्यक सुधार करना। लक्ष्य एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही रखना और वह भाव दृढ़ करते रहना।
- अनंत काल तक रहने के दो ही स्थान हैं। एक सिद्ध अवस्था और दूसरा निगोद। पहले में अनंत सुख है और दूसरे में अनंत दु:ख है। इसलिए अपने भविष्य को लक्ष्य में लेते हुए सर्वजनों को अपने सर्व प्रयत्न अर्थात् पुरुषार्थ एकमात्र मोक्ष के लिए ही करना योग्य है।
- जो होता है, वह अच्छे के लिए होता है ऐसा मानना। जिससे आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचा जा सकता है। अर्थात् नये कर्मों के आस्रव से बचा जा सकता है।
- मुझे किसका पक्ष किसकी तरफदारी करते रहना? अर्थात् मुझे कौन से संप्रदाय अथवा किस व्यक्ति विशेष का पक्ष करते रहना? **उत्तर–** मात्र अपना ही अर्थात् अपने आत्मा का ही पक्ष करते रहना, क्योंकि

उसमें ही मेरा उद्धार है; अन्य किसी का पक्ष नहीं, क्योंकि उसमें मेरा उद्धार नहीं, नहीं और नहीं ही है, क्योंकि वह तो राग-द्वेष का कारण होता है, परंतु जब अपने आत्मा का ही पक्ष किया जावे, तब उसमें सर्व ज्ञानियों का पक्ष समाहित हो जाता है।

- जैन कहलाते लोगों को रात्रि के किसी भी कार्यक्रम-भोजन समारंभ नहीं रखने चाहिए। किसी भी प्रसंग में फूल और आतिशबाजी का उपयोग नहीं करना चाहिए।

- विवाह, यह साधक के लिए मजबूरी होती है, न कि महोत्सव, क्योंकि जो साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य न पाल सकते हों, उनके लिए विवाह व्यवस्था का सहारा लेना योग्य है, जिससे साधक अपना संसार, निर्विघ्न श्रावकधर्म अनुसार व्यतीत कर सके और अपनी मजबूरी भी योग्य मर्यादा सहित पूरी कर सके। ऐसे विवाह का महोत्सव नहीं होता, क्योंकि कोई अपनी मजबूरी को उत्सव बनाकर, महोत्सव करते ज्ञात नहीं होते। इसलिए साधक को विवाह बहुत जरूरी हो तो ही करना और वह भी सादगी से। दूसरे, यहाँ बताये अनुसार विवाह को मजबूरी समझकर किसी को विवाह

दिवस इत्यादि के महोत्सव करने योग्य नहीं अर्थात् उस दिन विशेष धर्म करने योग्य है और ऐसी भावना भाओ कि अब मुझे यह विवाहरूप मजबूरी भविष्य में कभी न होओ! जिससे मैं शीघ्रता से आत्मकल्याण कर सकूँ और सिद्धत्व प्राप्त कर सकूँ।

- जन्म, वह आत्मा को अनादि का लगा हुआ भवरोग है, न कि महोत्सव, क्योंकि जिसे जन्म है, उसे मरण अवश्य है और जन्म-मरण का दु:ख अनंत होता है। इसलिए जब तक आत्मा के जन्म-मरणरूप चक्रवात चलता है, तब तक उसे अनंत दु:खों से छुटकारा नहीं मिलता अर्थात् प्रत्येक को एकमात्र सिद्धत्व अर्थात् जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा इच्छने योग्य है। इसलिए ऐसे जन्म के महोत्सव नहीं होते, क्योंकि कोई अपने रोग को उत्सव बनाकर महोत्सव करते ज्ञात नहीं होते। इसलिए साधक को यहाँ बताये अनुसार जन्म को अनंत दु:ख का कारण, ऐसा भवरोग समझकर जन्म-दिवस इत्यादि के महोत्सव करने योग्य नहीं है। अर्थात् उस दिन विशेष धर्म करने योग्य है। और ऐसी भावना भाओ कि अब मुझे यह जन्म, जो कि अनंत दु:खों का कारण ऐसा भवरोग है, वह भविष्य में कभी भी न होओ! अर्थात् साधक को एकमात्र सिद्धत्व की

प्राप्ति के लिए अर्थात् अजन्मा बनने के लिए ही सर्व पुरुषार्थ लगाने योग्य है।

- कोई भी प्रत्याख्यान=पच्चक्खाण धारणा अनुसार, सीमंधर भगवान की साक्षी से तीन नमस्कार मंत्र गिन कर लेना और प्रत्येक प्रत्याख्यान=पच्चक्खाण में अनजानपने के, असमाधि के, स्वास्थ्य के निमित्त से दवा के और अन्य कोई भी उपसर्ग के आगार, ऐसे धाररखना, कोई भी प्रकार के प्रत्याख्यान=पच्चक्खाण पालने की विधि जो (प्रत्याख्यान का नाम बोलना) प्रत्याख्यान=पच्चक्खाण किये थे, वे पूर्ण होने पर पालता हूँ। समकाएणं, न फासियं, न पालियं, न तिरियं, न किट्टियं, न सोहियं, न आराहियं, आणाए अणुपालियं, न भवई तस्स मिच्छामि दुक्कडं! तीन बार नमस्कार मंत्र गिनना।

- अनादि से पुद्‌गल के मोह में और उसी की मारामारी में जीव दंडित होता आया है अर्थात् उसके मोह के फलरूप से वह अनंत दु:ख भोगता आया है। इसलिए शीघ्रता से पुद्‌गल का मोह छोड़ने योग्य है। वह मात्र शब्द में नहीं, जैसे कि धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करनेवाले भी पुद्‌गल के मोह में फँसे हुए ज्ञात होते हैं,

इसलिए यह जीव अनादि से इसी प्रकार स्वयं को ठगता आया है। इसलिए सर्व आत्मार्थियों को हमारी प्रार्थना है कि आप अपने जीवन में अत्यंत सादगी अपनाकर पुद्‌गल की आवश्यकता बने उतनी घटाना और आजीवन प्रत्येक प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करना अर्थात् संतोष रखना परम आवश्यक है कि जिससे स्वयं एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य के लिए ही जीवन जी सके, जिससे वे अपने जीव को अनंत दु:खों से बचा सकते हैं और अनंत अव्याबाध सुख प्राप्त कर सकते हैं।

इस पुस्तक में हमारी कुछ भी भूल हुई हो तो आप सुधारकर पढ़ना और हम से जिन-आज्ञा से विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो हमारा त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं।

आत्मार्थी को दंभ से हमेशा दूर ही रहना चाहिए अर्थात् उसे मन, वचन और काया की एकता साधने का अभ्यास निरंतर करते ही रहना चाहिए और उसमें अड़चनरूप संसार से बचते रहना चाहिए।